E-ISSN No: 2456-6713 Print ISSN No: 3048-6459

International Educational Applied Research Journal

Peer-Reviewed Journal-Equivalent to UGC Approved Journal

A Multi-Disciplinary Research Journal

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्राचीन शास्त्रीय संगीत की उपादेयता

राम सखी सौर
शोधार्थी

Paper Received date

05/05/2026

Publishing Date

10/05/2026

DOI

https://doi.org/10.5281/zenodo.20412702

IMPACT FACTOR 5.924

वर्तमान काल भारतीय ज्ञान परम्परा का अनुयायी काल कहा जाता है। वर्तमान समय में प्राचीन काल में प्रतिष्ठित शास्त्रीय संगीत को भारतीय ज्ञान परम्परा से जोड़ते हुए नई पीढ़ी को इससे भली भांति परिचित कराने के उद्देश्य से भारत सरकार एवं विभिन्न प्रादेशिक सरकारें भी सतत् प्रयत्नशील हैं। भारत में मध्यकाल छटी से अठारहवी सदी के बीच माना जाता है यह काल दक्षिण में चालुक्य, पल्लव, पंड्या, राष्ट्रकूट और मुस्लिम शासकों से होते हुए उत्तर में मुगल शासकों तक का एक लम्बा और परिवर्तन भरा काल रहा। प्राचीन एवं आधुनिक इतिहास को जोड़ने का दौर मध्यकाल संगीत के इतिहास की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। 712 ई. में मो. बिन कासिम के साथ मुसलमान आक्रमणकारी आये अरब और अन्य विदेशी नागरिक भारत में बस गए और उनकी संस्कृति, संस्कार और संगीत भी यहीं बस गया। इस काल के संगीत की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी उत्तर भारतीय संगीत का उदय या कहा जाए भारतीय संगीत का दक्षिणी और उत्तरी संगीत में बटवारा। इस चर्चा के पूर्व यह जानना जरूरी और आवश्यक है की इस संक्रान्ति काल में यह प्रश्न पूंछा जाए की इस समय मूल भारतीय संगीत क्या हो तो यह स्पष्ट है की तत्कालीन प्रबंध गायन है परंपरागत संगीत या भारतीय ज्ञान परंपरा का मूल ज्ञान है। मूल प्रश्न यह बचा ही नहीं की आज संगीत की भारतीय ज्ञान परंपरा किसे कहा जा सकता है क्योंकि ख्याल तो यवनिक है ही ध्रुपद, धमार आदि प्राचीन शैलियां भी अपने मूल स्वरुप को खो चूँकि हैं।

गायन योग्य विधायें

भारतीय शास्त्रीय संगीत में गायन शैलियों के विभिन्न प्रकार प्रचलित रहे हैं। वैदिक काल में ऋकपाणिका और गाथा जैसे गीतों का प्रचलन भरत पूर्व काल में हो चुका था। मुद्रक, अपरांतक, उल्लोप्यक, प्रकरी, ओवेराक, रोविन्दक, उत्तर और वर्धमान के गीत वर्ण तथा ताल के विशिष्ट क्रम पर आधारित थे। इन गीतों के खण्डों या विभागों के लिए वस्तु संज्ञा थी। गीतों के गायन के पूर्व उपोहन नामक अंग होता था। वर्तमान संगीत में गीत के पहले तानना, रेनेना, नोम तोम, तानोम आदि अक्षरों से आलाप किए जाते हैं। यही कार्य उपोहन तथा प्रत्युपोहन से किया जाता था।

भरत काल में 'ध्रुवा' का सर्वाधिक महत्व था । वाक्य, वर्ण, अलंकार, यति, पाणि और लय, जहाँ ध्रुव रूप में परस्पर संबद्ध रहते थे। उसे ध्रुवा कहा जाता था। नाटय शास्त्र में 32वें अध्याय में 'ध्रुवा' का वर्णन है। जब गीत एक वस्तु में निबद्ध हो तो उसे ध्रुवा कहेंगे, यदि दो वस्तु में निबद्ध हो तो उसे परिगीतिका कहेंगे। यदि तीन वस्तु में निबद्ध हो तो उसे 'मुद्रक' कहेंगे और यदि चार वस्तु में गीत निबद्ध हो तो उस ध्रुवा को चतुश्पदा कहा जावेगा। ध्रुवा से चतुरस्त्र एवं त्रयस्त्र ताल का प्रयोग होता था। ध्रुवा गान, नाटक के आदि मध्य एवं अंत में होता था। यह परंपरा 9वीं से 10वीं ई. तक बनी रही। गीत रचना की दृष्टि से ये गीति प्राचीन 7 गीतों पर आधारित थे। ध्रुवा गायन के पश्चात **प्रबंध गायन** का समय आया, प्रबंध के छै अंग होते थे जिन्हें स्वर, विरूद, पद, पाट, तेनक और ताल कहा जाता था। यही आगे जाकर ध्रुपद के रूप में परिणित हो गये थे। ध्रुवागति की पंरपरा कुछ समय पूर्व तक दक्षिण के नृत्य नाटकों में दारू के नाम से प्रचलित रही।

ध्रुपद एवं धमार गायन की परंपरा

ध्रुपद गायन परम्परा – प्रारंभ में ध्रुपद संस्कृत श्लोकों का गेय स्वरूप था। ध्रुपद में स्वर लय तथा ताल के अतिरिक्त साहित्य का अनुपम संयोग होता है। ''ध्रुपद गायन का प्रचार होने से पूर्व भारतीय संगीत में प्रबंध, वस्तु, रूपक आदि गीत शैलियों का प्रचार था। प्रबंध गान से पूर्व ध्रुवा गीत की चर्चा शास्त्रों में प्राप्त होती है। वाक्य, वर्ण, अलंकार, यति, पाणि और लय जहाँ ध्रुवा रूप में सम्बद्ध रहते थे, उसे 'ध्रुवा' कहा जाता था।''[1] भरतकाल में ध्रुवा गीति के रूप में ध्रुपद का प्रारंभिक प्रकार प्रचलित था। ध्रुवा गान के पश्चात् 'प्रबंध गायन' प्रचलित हुआ, जिस को ध्रुपद और धमार का पूर्व

E-ISSN No: 2456-6713 Print ISSN No: 3048-6459

International Educational Applied Research Journal

Peer-Reviewed Journal-Equivalent to UGC Approved Journal

A Multi-Disciplinary Research Journal

रूप कहा जा सकता है। इस संबंध में 'संगीतरत्नाकर' 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार', 'रागदर्पण' आदि ग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होते हैं। संगीतरत्नाकर में शारंगदेव ने प्रबंध के तीन भेद बताए हैं– ''(1) सूड, (2) आलिक्रम और (3) विप्रकीर्ण। विभिन्न विद्वानों ने प्रबंध को 'वस्तु' और 'रूपक' भी कहा है। शारंगदेव द्वारा प्रबंध के चार धातु – ''उदग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग''[2] बताये गये हैं, इनमें से 'उद्गाह' और 'ध्रुव' हर प्रबंध में अनिवार्य हैं। शेष 'ध्रुव' में विकल्प था। वर्तमान में, स्थायी–अन्तरा इन्हीं धातुओं के अवशेष हैं।'' (शारंगदेव 2009 पृ 16)। ''प्रबंध धातुओं को यदि देखा जाये, तो– 'ध्रुपद गायन में रूपांतर और नामांतर के साथ प्रबंध के अंग और धातु आज भी विद्यमान हैं। स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग नामों से ध्रुपद के चार अवयव अब भी हैं। प्रबंध के अंगों में वर्णित स्वर–विरुद, स्वर–पद, स्वर–तेनक, विरुद–ताल आदि अंगों के ध्रुपद आज भी प्राप्त हैं।''[3] संगीतरत्नाकर में प्रबंध के छः अंग भी बताये गये हैं, जिन्हें 'स्वर, विरुद, पद, तेनक, पाट और ताल' कहा जाता है।

ध्रुपद गायकी का स्वरूप — ''आधुनिक ध्रुपद गायकी परंपरा का सूत्रपात ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के समय से हुआ उनके दरबार में बख्श, मँझु और भानू जैसे ध्रुपद कार थे।''[4] मान कोतूहल के अनुसार ध्रुपद की भाषा देशी थी इसमें चार पंक्तियाँ होती थीं इनमें सभी रसों का काव्य होते थे। भक्ति कालीन अष्टछाप के कवि, सूरदास, नंददास आदि के ध्रुपद इनकी विषय संबंधी विविधता का परिचायक हैं।

ध्रुपद एक गंभीर जोरदार मर्दानी गायन शैली थी जिसकी गुणीजन प्रशंसा करते थे। दरबारी कवि भावभट्ट एवं गायक तानसेन की कृतियों में अपने आश्रय दाताओं का गुण गान हैं। 18 वीं सदी में भावभट्ट के समय श्रंगारिक ध्रुपद रचनाओं का प्रचलन था। आज ध्रुपद रचनाओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मध्यकाल के ध्रुपदों में तीन खण्डों को धातु या तुक होते थे। इनके नाम क्रमशः उदग्राह, धुरवक और आभोग थे। इन्हीं को कालांतर में स्थायी अंतरा, संचारी और आभोग कहा जाने लगा। कुछ ध्रुपदों में स्थाई और अंतरा केवल दो ही भाग होते हैं। ध्रुपद गायकों को कलावंत कहा जाता था। ध्रुपद की बानियाँ –'मदानुल मौसीकी' नामक ग्रन्थ के प्रणेता हकीम मुहम्मद करम इमाम ने चार बानियों का उल्लेख किया है। अकबर के दरबार में उस समय के चार गुणी विद्यमान थे। तानसेन गौड़ ब्राह्मण थे, अतः उनकी वाणी गौड़ी या गोबरहारी कहलाई। ब्रजचंद डागुर के निवासी थे अतः उनकी वाणी डागुर वाणी के नाम से प्रसिद्ध है।

राजा समोखन सिंह खंडार निवासी थे अतः उनकी वाणी खंडार वाणी के नाम से प्रसिद्ध हैं इनका विवाह तानसेन की कन्या से हुआ तदुपरांत इनका नाम नौबाद खां रखा गया। श्रीचंद राजपूत नोहार के निवासी थे, अतः उनकी वाणी नोहार वाणी कहलाई। तानसेन के एक ध्रुपद में वाणियों का तुलनात्मक वर्णन है राजा गोबरहार, फौजदार (सेनापति) खण्डार, दीवान डागुर तथा बख्शी (कोषाध्यक्ष) नौहार। कुछ विद्वानों का मत है कि बानियाँ शुद्धा, भिन्ना, बेसरा, साधारणी जैसे प्राचीन गीत शैलियों पर आधारित रहीं। इन बानियों में आज विभिन्नता समझना कठिन है क्योंकि इनकी विशेषताओं का परस्पर आदान प्रदान होता रहा है जैसे कि आगरा घराना खंडार एवं नौहार दोनों से संबद्ध रहा। आजकल डागुर वानी सर्व प्रसिद्ध है तब भी यह कहना कठिन है कि अन्य बानियों की अपेक्षा इसमें क्या विशेषता रही होगी।

आधुनिक ध्रुपद गायन को समझने से यह आधारभूत जानकारी मिल जाती है कि आध्यात्मिक ध्रुपद की प्राचीन परंपरा मुगल दरबार में अकबर के काल तक नृत्य हेतु भी प्रयोग होने लगी थी। अबुल फजल ने ''दफ़जन'' कही जाने वाली महिलाओं के विषय में लिखा है। मुख्यतः वे पंजाबी नारियाँ 'दफजन' कहलाती हैं, जो दफ और ढोल बजाती तथा ध्रुवपद, सुहेला, विवाह–संबंधी गीत अथवा वर्षगाँठ के गीत गाती हैं। पहले वे महिलाओं के सामने ही आती थीं, परंतु आजकल वे जनता के समक्ष प्रदर्शन करती हैं।

शाहजहाँ और औरंगजेब के काल का वर्णन शिवाजी के पिता शाहजी के सभापंडित वेद का दिया हुआ है। ध्रुपद का लक्षण उद्धृत हैं जो हमें तत्कालीन ध्रुपद का परिचय करता है।

''उद्याहरहितं केचित्परे त्वाभोगजितम्। उद्ग्राहाभोगरहितमन्वर्थमपरे जगुः''।।[5]

अर्थात् – जब भावों से मनोहर ध्रुवपद नामक गीत गाया जा रहा हो, तब पात्र को ऐसा नर्तन करना चाहिए, जिसमें प्रियतमा के हास्य, कटाक्ष इत्यादि का प्रदर्शन हो, विविध गतियों या चेष्टाओं के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति हो, मुखराग इत्यादि से युक्त हो। ''जिसमें सुकुमार अंग–विन्यास हो, दंतप्रभा से जिसमें हावों (नायिका की स्वाभाविक चेष्टाओं) की अभिव्यक्ति हो, जिसकी रचना (ध्रुवपद के) खंडों के मान (नाप) से की गई हो, जिसके बीच–बीच में कंपन हो, ऐसा नृत्य ध्रुवपद–नृत्य कहलाता है। जिसमें उद्याह, ध्रुवक और आभोग नामक तीन धातुएँ मध्यदेशीय भाषा से युक्त होती हैं, और कुछ लोग उसे उद्याहरहित, कुछ लोग आभोगरहित और कुछ लोग उसे उग्रड्ग्राह और आभोग से रहित अर्थात्

E-ISSN No: 2456-6713 Print ISSN No: 3048-6459

International Educational Applied Research Journal

Peer-Reviewed Journal-Equivalent to UGC Approved Journal

A Multi-Disciplinary Research Journal

ध्रुवकमात्र कहते हैं, जो अन्वर्थ (अर्थ के अनुकूल) है।''[6] उपरोक्त वर्णन ध्रुपद के दो रूपों को दर्शाता है जिसमें एक मर्दना, बलपूर्वक और जोरदार गायकी वाला है दूसरा महिलाओं के नृत्य के अनुकूल और लालित्य पूर्ण है। ''एक और पक्ष हवेली संगीत के रूप में भी ध्रुपद का रूप नजर आता है जिसमें कीर्तन की वह परंपरा शामिल है जिसमें पखावज पर विद्वान संगीतज्ञ भजन गाते थे। मेगास्थनीज के उल्लेखों में मौर्य काल से कीर्तन और उस पर नृत्य की परंपरा रही है, वह भी स्पष्ट करती है कि आध्यात्मिक गायन भी गंभीर स्वर एवं लय के क्रमिक बढ़त (लयकारी युक्त) बड़ी सहजता से प्रयुक्त होती थी। जानकार निश्चित एवं सटीक लयकारी करते थे और समूह नृत्य या मांगलिक कार्यों में/मंदिरों में नर्तक अनुरूप लय संयोजन किया जाता था। मेगास्थनीज ने स्वयं देखा और उसके प्राप्त है कि सोमनाथ के मंदिर में ''500 युवतियाँ द्वार पर नाचती गाती थीं– इन सबका भरण–पोषण मंदिर के दान से होता था।''[7]

''पुष्टिमार्गी हवेली संगीत कि परंपरा महाप्रभु जी के पुत्र बिट्ठलदास जी के समय से गणना में आती है... हवेली के ध्रुवपद शुद्ध वाणी के हैं। ध्रुवपदों में केवल स्थायी और अंतरे वाले तथा स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग, ऐसे चारों अंगों वाले भी होते हैं। कई ध्रुवपदों में सोलह–सोलह पंक्तियाँ भी हैं, जो अधिकांशतः चार–चार अंगों से बँधी हुई हैं।''[8] ध्रुपद के इन रूपों में से सर्वाधिक प्राचीन या प्रामाणिक किसे कहा जाए यह कठिन है। ग्रंथों से उस काल की परंपरा का परिचय मिलता है। संगीत में स्वरलिपि का एक समय तक अभाव जिस प्रकार हमें रागों के स्वरूपों में भेद दिखाता है उसी प्रकार शैली को भी ग्रंथ एक सीमा तक ही स्पष्ट करते हैं।

धमार गायन की परंपरा

धमार भी ध्रुपद का सहभ्राता है। यह भी संगीत के परंपरागत भारतीय ज्ञान का अंश है। बहुत–से विद्वान्, जो हवेली–संगीत से परिचित नहीं हैं. मानते हैं कि धमार में साहित्य का भाग 'होली' के प्रसंग का होता है। किंतु यह अनुमान ठीक नहीं है। हवेली के धमारों में मात्र 'होली' का ही वर्णन नहीं होता वह उत्सव सूचक शैली है। होली के धमार लोक संगीत की होरी का पक्का गायन है जिसे पक्की होरी कहा जाना उचित है। ''धमार एक विस्तृत परंपरा है 'धमाल', 'धमार', 'धमारी', इन तीनों रूपों का मूल एक ही है। संस्कृत धातु 'धम्' का अर्थ सुलगाना, भड़काना, शब्द करना, जोर से फूंक मारना और बजाना है। इसी धातु से बने हुए विशेषण 'धम' का अर्थ सुलगाने वाला, भड़काने वाला शब्द करने वाला इत्यादि हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'धम इव ऋच्छति' (धम्+कृ+अच्) हो सकती है, जिसका अर्थ होगा– 'गान का वह प्रकार, जो प्रेरित करता हुआ अथवा फड़काता हुआ–सा चले ।''[9]

गायन में भी लगातार परिवर्तन आते रहे हैं। इन्हे जब मंदिर के संत गाते थे तो शब्द और भाव प्रधान होते थे। जिन्हें कीर्तनकार या कीर्तनियाँ कहा गया। ये पखावज और झाँझ के साथ रबाब लेते थे ऐसा आएने अकबरी में वर्णित है। मुगलिया प्रभाव संगीत के साथ–साथ सभी पर पड़ा धर्म भी इस से अछूता नहीं रहा। धमार की विषय वस्तु भी अन्य उत्सवों की अपेक्षा होली पर केंद्रित रही। ब्रज क्षेत्र मथुरा आगरा के अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत में भी धमार में होली के ही प्रसंग बने रहे। तत्कालीन सभी रचनाकारों एवं धमार गायकों ने होली या बसंत वर्णन में रुचि अधिक ली। मुगल दरबारों में हिन्दू दरबारियों और महलों में हिन्दू रानियों और दासियों की अधिकता के कारण कृष्ण भक्ति और रास लीला का अधिक महत्व था।

संगीतकारों की रचनाओं में कृष्ण चरित्र एवं लीलाओं को आध्यात्मिक दृष्टि के अलावा श्रंगारिक पक्ष के कारण भी दरबारों में अधिक प्रोत्साहन मिला। नृत्य और नाट्य के माध्यम से धमार आदि शैलियों को प्रस्तुत कर जन रंजन किया जाता था। ऐसे भी अनेक धमार प्राप्त होते हैं जिनमें होरी और राधा कृष्ण का वर्णन के अतिरिक्त प्रकृति, अन्य देव और अवतारों का वर्णन प्राप्त होता है। धमार को सामान्यतः ध्रुपद गायक ही प्रस्तुत करते थे। उसकी लय ध्रुपद से तेज ही हुआ करती थी जिससे उसकी चाल का आनंद और बढ़ जाता था। भारतीय शास्त्रीय गायन परंपरा में जिस प्रकार आज विलंबित ख्याल के बाद द्रुत ख्याल गायन का चलन है वैसे ही ध्रुपद के पश्यात धमार गायन की परंपरा भी कुछ घरानों में रही है। कुछ पुस्तकों में ख्याल के साथ धमार भी अंकित हैं।

ऐसे देखित लाल जागे भाग हमारे आज रसभीने।
एक बसंत जाम सबको उते देखत कृपति कर सुगंध नवीने।।
उदै भये गर्भ दोऊ औरिते आए अंजन अधर लगाय लीने।
सदारंग महम्मदसाह छन नायक, याते मन बस कीने।।

E-ISSN No: 2456-6713 Print ISSN No: 3048-6459

International Educational Applied Research Journal

Peer-Reviewed Journal-Equivalent to UGC Approved Journal

A Multi-Disciplinary Research Journal

मध्यकाल में बसंत आदि के वर्णन के पूर्व धमार एक उत्सव वर्णन का गीत प्रकार था। विभिन्न प्रकार के उत्सवों का लालित्य पूर्ण वर्णन इसमें किया जाता था। ''डॉ गीता पेन्टल के अनुसार यह गायन शैली पंजाब में अति प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। उनका कहना है इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण तो कतिपय शब्द है, जिसमें आध्यात्मिक होली का वर्णन किया गया है और रंग आदि उपदानों की प्रतीकात्मक रूप से सजोया गया है।'' ('यमन' 2022) पृ. 395। यह सिक्ख धर्म के उदय के पूर्व से है विद्यमान है। इसका पहला उल्लेख संगीत शिरोमणि से प्राप्त होता है, हालांकि इसे मतंग मुनि ने भिन्ना गीति कहा गया है। धमार की उत्पत्ति और विकास का क्रम अत्यंत लंबा है किसी दरबार या सुल्तान का प्रोत्साहन अवश्य इसे या इसके साहित्य को पोषित कर सकता है परंतु इसकी उत्पत्ति तो लोक की स्वछंद धारा में ही संभव है। मध्यकाल धमार की गायन की लय और तालों के प्रकारों में भी भिन्नता प्राप्त होती है।

धमार ताल में गाई जाने वाली शैली के कारण ताल का नाम धमार पड़ा या ताल की चाल से आकर्षित होकर इसमें रचनाएं की गईं और वे धमार कहलाईं। श्री टी. एल. राणा के ''धमार ताल में आज की तरह '3–2–2–3–2–2' के खण्ड न होकर '3–2–3–2–2–2' के खण्ड होते थे, इस कारण यह गाने में कठिन होता था और इसमें तीव्रा की लय नहीं दिखाई देती थी।''[10] धमार का विभाजन सर्वमान्य 5+2+3+4=14 के रूप आज भी प्रचलित है, परंतु प्रसिद्ध पखावजी कुदऊ सिंह की परंपरा इसे 3+2+3+2+2+2=14 मानती है। पहला विभाग पाँच मात्रा का इसे अलग पहचान देता है।

निष्कर्ष या सार रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय ज्ञान परंपरा के प्राचीन स्वरूप में से शास्त्रीय संगीत में आज की विधाओं में ध्रुपद और धूमार ही मात्र ऐसी विधा हैं जो अपने मूल स्वरूप से अलग होकर भी भारतीय मूल्यों एवं मान्यताओं को प्रकट करने में आज सफल सिद्ध हुई है। भारतीय संगीत के आध्यात्मिक स्वरूप को ही हम सम्मान एवं श्रद्धा से धारण करते आए हैं। मनीषियों एवं विचारकों ने इस हेतु प्रयास भी किए हैं।

उपरोक्त विवेचन से निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं :–

ध्रुपद आदि काल से ही आध्यात्मिक स्वरूप का रहा है और कालांतर में उसकी भाषा संस्कृत से हिन्दी की बोलियों में बदलती रही। 'ध्रुपद के मुख्य भाग भी समय अनुसार अधिक परिवर्तित नहीं हुए। स्थाई, अंतरा, संचारी और आभोग आज भी अपने प्रचार में है। सुविधा और वर्तमान समय में प्रारम्भिक दो भाग ही प्रस्तुत किये जाते हैं। भाषा में संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी और उसकी विशिष्ट बोलियों में रचनाएं होती हैं ।

ध्रुपद का प्रारम्भिक विस्तार भी पूर्ववत होता है जिसमें लयात्मक बढ़त का चलन आज भी है। गमक का प्रयोग तो हो रहा है परंतु श्रोता अनुरूप गमक कम ही प्रयुक्त की जाती है। आज खटका, कण, मुर्की को गमक का हिस्सा नहीं माना जाता परंतु प्रयोग अवश्य किया जाता है। साररूप में यह सिद्ध हुआ कि भारतीय ज्ञान परंपरा में प्राचीन शास्त्रीय संगीत की भूमिका सिद्ध हुई है। संगीत की भारतीय ज्ञान परम्परा प्राचीन से प्राचीनतम परम्परा मानी जाती है। वर्तमान समय में नई पीढ़ि को इसका आभास तथा सम्यक ज्ञान प्रदान कराने के लिए भारतीय सरकारें सतत अथक प्रयत्न कर रही हैं।

संदर्भ सूची

1. सहाय, डॉ. जगदीश, ''ध्रुपद–धमार अंक'' संगीत, 1964 : पृष्ठ 10
2. शर्मा, अनिता, प्राचीन सांगीतिक परम्परायें एवं ध्रुपद शैली– एक अध्ययन, दिल्ली : संजय अग्रवाल, 2010 पृष्ठ 10
3. देवांगन, तुलसीराम, ''ध्रुपद शैली : एक विचार'', In निबंध संगीत, by लक्ष्मीनारायण गर्ग, 55–60, हाथरस : संगीत कार्यालय, 1978, पृष्ठ 67
4. शरतचंद्र श्रीधर परांजपे, संगीत बोध, भोपाल : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1986
5. भरत, भरत कोश, Edited by मानवल्ली रामकृष्ण कवि, 1999 : तिरुमल निरुपति देवस्थानं पुस्तकालय, तिरुपति, पृष्ठ 299
6. वृहस्पति, आचार्य, संगीत चिंतामणि, हाथरस : संगीत कार्यालय, 1976, पृष्ठ 54
7. चड्ढा, जतिन https://www.scribd.com.Edited by https://www.scribe.com/ user/ 16494565/jatinChadha] May 07,2014

E-ISSN No: 2456-6713 Print ISSN No: 3048-6459

International Educational Applied Research Journal

Peer-Reviewed Journal-Equivalent to UGC Approved Journal

A Multi-Disciplinary Research Journal

8. राजा, चित्तरंजन,''हवेली संगीत कि परंपरा'' In निबंध संगीत, by लक्ष्मीनारायण गर्ग, 509–514 हाथरस : संगीत कार्यालय, 1978, पृष्ठ 511
9. बृहस्पति, आचार्य, ''धमार गायकी : एक रंगारंग परंपरा'' In निबंध संगीत, by लक्ष्मीनारायण गर्ग, 61–67, हाथरस : संगीत कार्यालय, 1978, पृष्ठ 62
10. चौधरी, शुभद्रा, भारतीय संगीत में 'निबद्ध' (ताल, गीतक, छंद और धुरवा का लक्षण– लक्ष्यमूलक अध्ययन), नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन, 2004, पृष्ठ 316